B.D.GOYAL

|| ॐ श्रीसद्गुरुपरमात्मने नमः ||

प्रार्थना पीयूष

संत श्री आशाराम आश्रम
साबरमती अहमदाबाद-३८०००५

PRARTHANA PEEYUSH

प्रकाशक :
श्री योग वेदान्त सेवा समिति
संत श्री आशाराम आश्रम
साबरमती, अहमदाबाद-३८० ००५
फोन : ८६६३१०

मार्च, १९८६

मूल्य : ७५ पैसे

प्रातः प्रार्थना

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुर्साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥१॥

गुरु ब्रह्मा हैं, गुरु विष्णु हैं, गुरु देवाधिदेव महादेव हैं, गुरु साक्षात् परब्रह्म हैं, उन श्री गुरुदेव को नमस्कार हो ॥१॥

ध्यानमूलं गुरोर्मूर्तिः पूजामूलं गुरोः पदम् ।
मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा ॥२॥

गुरुदेव की मूर्ति ध्यान का मूल है, गुरुदेव के चरण-कमल पूजा का मूल हैं, गुरुदेव का वचन मंत्रों का मूल है, गुरुदेव की कृपा मोक्ष का मूल है ॥२॥

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३॥

जिससे समग्र चराचर जगत व्याप्त है ऐसा अखण्ड और मण्डलाकार परम पद-परब्रह्म का स्थान जिन्होंने दर्शाया उन श्री गुरुदेव को नमस्कार हो ॥३॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥४॥

आप ही मेरी माता हो और आप ही पिता हो, आप ही भाई हो और आप ही मित्र हो, आप ही विद्या हो और आप ही धन हो । हे देवों के देव ! आप ही मेरा सर्वस्व हो ॥४॥

ब्रह्मानन्दं परम सुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगन सदृशं तत्त्वमस्यादि लक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीः साक्षीभूतम्
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥५॥

जो ब्रह्मानन्द-स्वरूप हैं, परम सुख देनेवाले हैं, जो केवल ज्ञानस्वरूप हैं, (सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि) द्वन्द्वों से रहित हैं, आकाश के समान सूक्ष्म और सर्वव्यापक हैं, तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के लक्ष्यार्थ हैं, एक हैं, नित्य हैं, मल

रहित हैं, अचल हैं, सर्व बुद्धियों के साक्षी हैं, भावना से परे हैं, सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से रहित हैं ऐसे श्री सद्गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूँ ॥५॥

निर्वाणषटकम्

मनो बुद्ध्यहंकार चित्तानि नाहं
न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे ।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ॥१॥

मैं मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त नहीं हूँ, कर्ण और जिह्वा नहीं हूँ, नासिका और नेत्र नहीं हूँ. आकाश और भूमि नहीं हूँ, तेज नहीं हूँ, वायु नहीं हूँ । मैं तो चैतन्य आनन्दस्वरूप शिव हूँ....शिव हूँ (कल्याणस्वरूप हूँ) ॥१॥

न च प्राणसंज्ञो न वै पंचवायुः
न वा सप्तधातुर्न वा पंचकोषः ।
न वाक्पाणिपादौ न चोपस्थपायुः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ॥२॥

मैं प्राण नहीं हूँ, संज्ञा नहीं हूँ, पाँच वायु नहीं हूँ, सात धातु नहीं हूँ अथवा पाँच कोष नहीं हूँ । मैं वाणी नहीं हूँ, हाथ नहीं हूँ, पैर नहीं हूँ, मैं गुह्यांग आदि नहीं हूँ। मैं तो चैतन्य आनन्दस्वरूप शिव हूँ...शिव हूँ (कल्याण-स्वरूप हूँ) ।.२॥

न मे द्वेषरागौ न मे लोभमोहौ
मदो नैव मे नैव मात्सर्यभावः ।
न धर्मो न चार्थो न कामो न मोक्षः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् । ३ ।

मुझे राग और द्वेष नहीं है, मुझे लोभ और मोह नहीं है, मुझे मद भी नहीं है और मात्सर्य (इर्ष्या) भी नहीं है । मुझे न कोई धर्म है न अर्थ है, न काम है न मोक्ष है । मैं तो चैतन्य आनन्दस्वरूप शिव हूँ....शिव हूँ (कल्याणस्वरूप हूँ) ॥३॥

न पुण्यं न पापं न सौख्यं न दुःखं
न मंत्रो न तीर्थं न वेदा न यज्ञाः ।
अहं भोजनं नैव भोज्यं न भोक्ता
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ॥४॥

मुझे न कोई पुण्य है न पाप है, न सुख है न दुःख है, मेरा न कोई मन्त्र है न तीर्थ है, न वेद है न यज्ञ है । न मैं भोजन हूँ न भोज्य पदार्थ हूँ और न भोक्ता हूँ । मैं तो चैतन्य आनन्दस्वरूप शिव हूँ....शिव हूँ (कल्याण-स्वरूप हूँ) ॥४॥

न मे मृत्युशङ्का न मे जातिभेदः
पिता नैव मे नैव माता न जन्मः ।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्यः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ॥५॥

मुझे मृत्यु विषयक शंका नहीं, मुझे कोई जाति भेद नहीं। न कोई मेरा पिता है न माता है, न मेरा जन्म ही है। मैं किसीका भाई नहीं, मित्र नहीं, गुरु नहीं और शिष्य भी नहीं। मैं तो चैतन्य आनन्दस्वरूप शिव हूँ....शिव हूँ (कल्याणस्वरूप हूँ) ॥५॥

अहं निर्विकल्पो निराकार रूपो
विभुर्व्याप्य सर्वत्र सर्वेन्द्रियाणाम्
सदा मे समत्वं न मुक्तिर्नबन्धः
चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम् ॥६॥

मैं संकल्प-विकल्प रहित हूँ, निराकार स्वरूप हूँ। मैं सर्वव्याप्त, सर्व इन्द्रियों का स्वामी हूँ। मैं सदैव समत्व में स्थित हूँ, मुझे मुक्ति या बन्धन नहीं है। मैं चैतन्य आनन्दस्वरूप शिव हूँ....शिव हूँ (कल्याणस्वरूप हूँ) ॥६॥

स्थितप्रज्ञ-लक्षण

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन बोले: हे केशव! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है? ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्री भगवान बोले: हे अर्जुन! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भलीभाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखों की प्राप्ति होनेपर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिर-बुद्धि कहा जाता है ॥५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेह रहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

और कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों के विषयों से

इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करनेवाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है ॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

हे अर्जुन ! आसक्ति का नाश न होने के कारण ये प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी बलात्कार से हर लेती हैं ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिये साधक को चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे, क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है ॥६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

क्रोध से अत्यन्त मूढभाव उत्पन्न हो जाता है, मूढभाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है ।६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परन्तु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वश में की हुई राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तःकरण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है ॥६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अन्तःकरण की प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगी

की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है? ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

क्योंकि जैसे जल में चलनेवाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार निग्रह की हुई हैं उसीकी बुद्धि स्थिर है ॥६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सम्पूर्ण प्राणियों के लिये जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्त्व को जाननेवाले मुनि के लिये वह रात्रि के समान है ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहनेवाला नहीं ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित, अहङ्कार रहित और स्पृहा रहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता

और अन्तकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है ॥७२॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

ॐ यह (परम तत्त्व) पूर्ण है, वह (परम सत्य) पूर्ण है । पूर्ण में से पूर्ण ही प्रकट होता है । पूर्ण में से पूर्ण को ले लिया जाय तो पूर्ण ही शेष रहता है ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

सायं प्रार्थना

(१) गुरुर्ब्रह्मा............
(२) ध्यानमूलं...........
(३) अखण्डमण्डलाकारं...
(४) त्वमेव माता........
(५) ब्रह्मानन्दं...........

गुरु-वन्दना

जय सद्गुरुदेवन देव वरं निज भक्तन रक्षण देह धरं
परदुःख हरं सुख शान्ति करं निरुपाधि निरामय दिव्य परं....१

जय काल अबाधित शान्तिमयं जन पोषक शोषक ताप त्रयं
भयभंजन देत परम अभयं मन रंजन भाविक भाव प्रियं....२

ममतादिक दोष नशावत हैं शम आदिक भाव सिखावत हैं
जग जीवन पाप निवारत हैं भव सागर पार उतारत हैं....३

कहुँ धर्म बतावत ध्यान कहीं कहुँ भक्ति सिखावत ज्ञान कहीं
उपदेशत नेम अरु प्रेम तुम्हीं करते प्रभु योग अरु क्षेम तुम्हीं....४

मन इन्द्रिय जा ही न जान सके नहीं बुद्धि जिसे पहचान सके
नहीं शब्द जहाँ पर जाय सके बिनु सद्गुरु कौन लखाय सके....५

नहीं ध्यान न ध्यातृ न ध्येय जहाँ, नहीं ज्ञातृ न ज्ञान न ज्ञेय जहाँ
नहीं देश न काल न वस्तु तहाँ बिनु सद्गुरु को पहुँचाय वहाँ....६

नहीं रूप न लक्षण ही जिसका नहीं नाम न धाम कहीं जिसका
नहीं सत्य असत्य कहाय सके गुरुदेव ही ता ही जनाय सके....७

गुरु कीन कृपा भव त्रास गई मिट भूख गई छुट प्यास गई
नहीं काम रहा नहीं कर्म रहा नहीं मृत्यु रहा नहीं जन्म रहा....८

भग राग गया हट द्वेष गया अध चूर्ण भया अणु पूर्ण भया
नहीं द्वैत रहा सम एक भया भ्रम भेद मिटा मम तोर गया....९
नहीं मैं नहीं तू नहीं अन्य रहा गुरु शाश्वत आप अनन्य रहा
गुरु सेवत ते नर धन्य यहाँ तिनकूं नहीं दुःख यहाँ न वहाँ....१०

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

ज्ञानीभक्त-लक्षण

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

जो पुरुष सब भूतों में द्वेष-भाव से रहित, स्वार्थ-रहित, सबका प्रेमी और हेतु-रहित दयालु है तथा ममता से रहित, अहङ्कार से रहित, सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम और क्षमावान है अर्थात् अपराध करनेवाले को भी अभय देनेवाला है; तथा जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए है और मुझ में दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥१३-१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

जिससे कोई भी जीव उद्वेग को प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीव से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, तथा जो हर्ष, अमर्ष (दूसरे की उन्नति को देखकर होने-

वाला संताप), भय और उद्वेगादि से रहित है वह भक्त मुझको प्रिय है ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

जो पुरुष आकाङ्क्षा से रहित, बाहर-भीतर से शुद्ध, चतुर, पक्षपात से रहित और दुःखों से छूटा हुआ है-वह सब आरम्भों का त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है--वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है ॥१७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

जो शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम है, आसक्ति से रहित है, जो निन्दा-स्तुति को समान समझनेवाला है, मननशील और जिस किसी प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है तथा रहने के स्थान में ममता और आसक्ति से रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान पुरुष मुझको प्रिय है ॥१८-१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

परन्तु जो श्रद्धायुक्त (वेद, शास्त्र, महात्मा और गुरुजनों के एवं परमेश्वर के वचनों में प्रत्यक्ष के सदृश विश्वास करनेवाला) पुरुष मेरे परायण होकर इस उपर कहे हुए धर्ममय अमृत को निष्काम प्रेमभाव से सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं ॥२०॥

*

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

पुरुषोत्तमयोग

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्री भगवान बोले : आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले जिस संसाररूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं–उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है; वह वेद के तात्पर्य को जाननेवाला है ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

उस संसारवृक्ष की तीनों गुणों रूप जल के द्वारा बढ़ी हुई एवं विषयभोग रूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और

तिर्यक् आदि योनि रूप शाखाएँ नीचे और उपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्यलोक में कर्मों के अनुसार बाँधनेवाली अहंता-ममता और वासना रूप जड़ें भी नीचे और उपर सभी लोकों में व्याप्त हो रही हैं ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

इस संसारवृक्ष का स्वरूप जैसा कहा है, वैसा यहाँ विचारकाल में नहीं पाया जाता, क्योंकि न तो इसका आदि है और न अन्त है तथा न इसकी अच्छी प्रकार से स्थिति ही है । इसलिये इस अहंता, ममता और

वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपल के वृक्ष को दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर तत्पश्चात् उस परम पद रूप परमेश्वर को भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसार में नहीं आते और जिस परमेश्वर से इस पुरातन संसार-वृक्ष की प्रवृत्ति विस्तार को प्राप्त हुई है, मैं उसी आदिपुरुष नारायण के शरण हूँ - इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वर का मनन और निदिध्यासन करना चाहिये ॥३-४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोष को जीत लिया है, जिनकी परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं - वे सुखदुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परम पद को प्राप्त होते हैं ॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

जिस परम पद को प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसार में नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परम पद को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परम धाम है ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

इस देह में यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इन प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षण करता है ॥७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादि का स्वामी जीवात्मा भी जिस

शरीर का त्याग करता है, उससे इन मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है उसमें जाता है ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके अर्थात् इन सब के सहारे से ही विषयों का सेवन करता है ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

शरीर को छोड़कर जाते हुए को अथवा शरीर में स्थित हुए को अथवा विषयों को भोगते हुए को इस प्रकार तीनों गुणों से युक्त हुए को भी अज्ञानी जन नहीं जानते, केवल ज्ञान रूप नेत्रोंवाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्व से जानते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदय में स्थित इस आत्मा को तत्त्व से जानते हैं किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहने पर भी इस आत्मा को नहीं जानते ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

सूर्य में स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में है और जो अग्नि में है — उसको तू मेरा ही तेज जान ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥१३॥

और मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपनी शक्ति से सब भूतों को धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय

चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण औषधियों को अर्थात् वनस्पतियों को पुष्ट करता हूँ ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित रहनेवाला प्राण और अपान से संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ तथा मुझ से ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने के योग्य हूँ तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जाननेवाला भी मैं ही हूँ ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

इस संसार में नाशवान और अविनाशी भी ये दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियों के शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इन दोनों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकों में प्रवेश करके सब का धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा इस प्रकार कहा गया है ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग क्षेत्र से तो सर्वथा अतीत हूँ, और अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम हूँ, इसलिये

लोक में और वेद में भी पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥१८॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्व से पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकार से निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वर को ही भजता है ॥१९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है ॥२०॥

(भोजन के समय)

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥

जिस यज्ञ में अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म हैं और हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म हैं तथा ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है – उस ब्रह्मकर्म में स्थित रहनेवाले योगी द्वारा प्राप्त किये जाने योग्य फल भी ब्रह्म ही है ।

ॐ सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहै ।
तेजस्वीनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

ॐ वह (परम तत्त्व) हम दोनों का साथ में ही रक्षण करे । हम दोनों साथ में ही भोजन करें । हम दोनों साथ में ही पराक्रम करें । हम दोनों की विद्या तेजस्वी हो । हम दोनों परस्पर द्वेष न करें ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

❀ प्रार्थना की दिव्य शक्ति ❀

साधक जब जब सच्चे हृदय से, श्रद्धाभाव से, एकाग्रतापूर्वक सद्गुरुदेव का ध्यान करता है, प्रेम से स्मरण करता है, प्रार्थना करता है तब दिव्य अन्तर्चक्षुवाले सद्-गुरुदेव के हृदय में तत्काल संवेदन होता है कि साधक की ओर से प्रार्थना और उन्नत विचारधारा का प्रवाह बह रहा है और मुझे स्पर्श कर रहा है। उसी समय, जैसे एक बर्तन में से दूसरे बर्तन में तेल की धारा बहती है, वैसे सद्गुरुदेव के करुणामय हृदय में से आध्यात्मिक विद्युत का सुमधुर झरना साधक के प्रति बहने लगता है और उसे आध्यात्मिक आनन्द से पुष्ट करने लगता है, साधक का हृदय भावविभोर होने लगता है।

❀

७५ पैसे